देशज बचपन की बनावट

उपनिवेशवाद, व्यावसायिक शिक्षा तथा कामगार बच्चा

❑ शारदा बालगोपालन

अनुवाद - हेतु भारद्वाज

इस लेख में व्यावसायिक शिक्षा को व्यापक ऐतिहासिक संदर्भों के साथ औपचारिक शिक्षा तथा गरीबी के उपनिवेशवादी तथा उत्तर उपनिवेशवादी विमर्शों में देखने का प्रयास किया गया है । यह भी देखा गया है कि संस्कृति किस प्रकार इतिहास तथा श्रमशक्ति से प्रभावित होती है । लेख तीसरी दुनिया के हाशिए के बच्चों पर हुए ताजा अध्ययनों के प्रति प्रश्नाकुलता से आरंभ होता है । इसमें यह दर्शाया गया है कि उपनिवेशवाद, आधुनिक शिक्षा-पद्धति के प्रतिष्ठापन तथा बच्चों के श्रम को मजदूरी में तब्दील करने के माध्यम से गरीबों के जीवन को किस प्रकार आहत करता है ।

भूमिका

बाल अधिकारों पर हुए सम्मेलन ने बचपन के बारे में पश्चिमी अवधारणाओं को विशेषाधिकार देकर महिमामंडित किया है । इस धारणा के विद्वानों के पनपने से स्थानीय सांस्कृतिक परिवेश में बचपन की बहु-आयामिता को पहचानने के प्रयत्नों को अधिक बल मिला है । (जेम्स तथा प्राउट 1997, न्यूनहाइज 1998, पेन्टरब्रिक 2000) 'बच्चे और राजनीति की संस्कृति' की भूमिका में संस्कृति को परिभाषित करने की कठिनाई को भाँपते हुए शेरों स्टीफेंस (1996-97) चेतावनी देती हैं, ''उत्तर आधुनिक दुनिया की जटिल सांस्कृतिक चेतना की कीमत पर बचपन के सांस्कृतीकरण का प्रयास नहीं होना चाहिए ।'' वे यह भी रेखांकित करती है कि लिंग, वर्ण और वर्ग के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न संस्कृतियों में बचपन की अवधारणा को, पाश्चात्य दृष्टि से देखने के बजाय, वैश्विक संदर्भ में लिंग, वर्ण, वर्ग तथा स्वयं बचपन को नये सिरे से देखने की आवश्यकता है (पूर्वोक्त)। अपने सरोकारों को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे इस निबंध में उस ऐतिहासिक प्रक्रिया पर प्रकाश डालती हैं जो गैर पश्चिमी बच्चों के बचपन को संस्कृतिवादी प्रयत्नों की सीमा में प्रभावित करते हुए उसकी बहुआयामिता को समझने की कोशिश करती हैं।

प्रस्तुत निबंध का लक्ष्य बच्चों पर पडने वाले उन स्थायी तथा संघटक प्रभावों की व्याख्या करना है जिन्हें देशज सांस्कृतिक प्रभाव मानकर इतिहास की प्रक्रिया से अलग कर दिया जाता है। संस्कृति को एक संघटक के रूप में समझना वस्तुत: संस्कृति को सत्ता की उस कार्य प्रणाली के रूप में समझने से अनिवार्यत: जुड़ा हुआ है जो फोकाल्ट के मतानुसार उत्पादनकारी शक्ति तथा ताकत के प्रयोग के साथ दमनकारी क्षमताओं के रूप में प्रकट होती है। संस्कृति के इस प्रत्यय में ग्राम्शी का वर्चस्वादी विचार तथा एक समाज के सभी सदस्यों द्वारा संस्कृति को परिभाषित करने की चुनौती का स्वीकार सन्निहित है (डिर्क्स 1994)। वर्चस्ववाद से ग्राम्शी का तात्पर्य उस अनवरत संघर्ष से है जिसमें कुछ विशेष समाज समूह, विचार तथा व्यवहार में दूसरे समाज समूहों को जीतने का प्रयास करते हैं ।

संस्कृति का प्रत्यय आधुनिकता, उपनिवेशवाद तथा पूंजीवाद के विस्तार के इतिहास से संबद्ध है । तीसरी दुनिया के अधिसंख्य देश यूरोप के पूर्व उपनिवेश हैं ; अत: वे तरह-तरह के बचपन, जिनका अध्ययन हम करना चाहते हैं, अंतत: आधुनिकता, उपनिवेशवाद तथा पूंजीवाद के प्रसार के दबाबों से गहरे प्रभावित रहे हैं । (बॉयडेन 1997) यद्यपि गरीब देशों के इन विविध बचपनों का अध्ययन पाश्चात्य बुर्जवाजी की वर्चस्ववादी धारणा से हटकर उन उपनिवेशवादी दबाबों पर दृष्टिपात करता है जिन्होंने तीसरी दुनिया के गरीब बच्चों की जीवन-पद्धति को प्रभावित किया है। फिर भी यह देखना जरूरी है कि तीसरी दुनिया के बच्चों के विषय में दी गयी आरंभिक मानव-शास्त्रीय व्याख्यायें क्या वर्तमान सांस्कृतिक व्याख्याओं के लिए पर्याप्त आधार प्रदान कर सकती हैं?

इस अध्ययन में मैंने कलकत्ता के एक लड़के के अनुभवों को व्यावसायिक शिक्षा के व्यापक ऐतिहासिक संदर्भों में औपचारिक शिक्षा तथा निर्धन वर्ग के उपनिवेशवादी एवं उत्तर उपनिवेशवादी विमर्शों में देखने का प्रयास किया है । इसके लिए मैने फॉकॉल्टस (1977) के उस तार्किक विमर्श को उपयोग में लिया है कि किस प्रकार एक ऐतिहासिक मोड पर किसी विषय का ज्ञान और अर्थ बदल जाते हैं । 'मानुष' तथा 'खटनी' के उन सांस्कृतिक विवरणों को जिनमें इस लड़के के अनुभव समृद्ध होते हैं, उपनिवेशवादी शैक्षिक विमर्शों के माध्यम से समझने का प्रयास किया गया है तथा इस अध्ययन में यह भी देखा गया है कि संस्कृति किस प्रकार इतिहास तथा श्रम-शक्ति से प्रभावित होती है । मैंने अपना विमर्श तीसरी दुनिया के हाशिए के बच्चों पर हुए ताजा अध्ययनों के प्रति प्रश्नाकुलता से आरंभ किया है ताकि यह अवधारणा पुष्ट हो सके कि ये बचपन के विविध रूप आधुनिक हैं तथा इतिहास से बाहर रहे हैं । इस अध्ययन का अगला भाग उस लड़के के अनुभवों को व्यावसायिक शिक्षा के साथ व्याख्यायित करता है। इस लड़के के अनुभवों की व्याख्या करते समय अध्ययन के अगले दो भागों में मैंने यह खोजने का प्रयास किया है कि उपनिवेशवाद, आधुनिक शिक्षा-पद्धति के प्रतिष्ठापन तथा बच्चे के श्रम को मजदूरी (वेतन) में तब्दील करने के माध्यम से, किस तरह निर्धन वर्ग के जीवन में विलगाव पैदा करता है ।

समाज-संरचना के रूप में बचपन: एक ज्ञानमीमांसीय अनुचिन्तन

सामाजिक एवं ऐतिहासिक संरचना के रूप में बचपन के अध्ययन का प्रथम साक्ष्य एरीज (1962) के अध्ययन में मिलता है । उसने उद्घाटित किया कि जीवनधारा के एक विशिष्ट पडाव के रूप में बचपन की अवधारणा का उदय 15 वीं तथा 18 वीं शताब्दी के बीच में परिवार, एकाकीपन तथा वैयक्तिकता के उदय से जुडा हुआ था । यद्यपि अन्य इतिहासकार (डी मौज 1976, हॅनवाल्ट 1993, पोलॉक 1983) कुछ बातों को लेकर एरीज से सहमति नहीं रखते थे तथापि बचपन की संरचना को लेकर कोई असहमति नहीं थी । एरीज के विचारों को आधार बनाकर जेम्स तथा प्राउट (1997) बचपन को एक जैविक अपरिपक्कता न मानकर, एक प्रक्रिया मानते हैं जिसके द्वारा संस्कृतियां इस अपरिपक्कता तथा उसके विविध अर्थों की व्याख्या करती हैं । समाज संरचना के रूप में बचपन संबंधी उनकी मान्यता इस विचार को स्थान देती है कि विविध बचपनों की रचना में देशज सांस्कृतिक प्रभावों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इससे विकासात्मक मनोविज्ञान के क्षेत्र में बच्चों के अध्ययन की तथा 'बच्चे' की एक स्वतंत्र इकाई के रूप में मान्यता की गंभीर समीक्षा को महत्व मिला है ।

तीसरी दुनिया के बच्चों के अध्ययन के प्रयास पाश्चात्य नैतिकी तथा सैद्धांतिकी से मुक्त उनकी अपनी आर्थिक-सामाजिक तथा सांस्कृतिक वास्तविकताओं के परिप्रेक्ष्य में, अपनी व्याख्यायें प्रस्तुत करते हैं । तीसरी दुनिया के गरीब बच्चों का अध्ययन करते समय इससे हम वस्तुनिष्ठ निष्कर्ष निकालने में समर्थ होते हैं । तात्पर्य यह है कि इस पद्धति से तीसरी दुनिया के गरीब बच्चों का अध्ययन करते समय हम बचपन के पश्चिमी बुर्जुवाजी आदर्श के प्रारूप की तुलना के व्यर्थ प्रभाव से बच जाते हैं । जेम्स तथा प्राउट (1997) अपने प्रतिमानों का विवरण देते समय अपेक्षाकृत कुछ देशज किन्तु स्थिर सांस्कृतिक प्रभावों की ओर उन्मुख होते प्रतीत होते हैं । तथापि उनके सांस्कृतिक प्रतिमान उन प्रभावों का आकलन करने में असफल रहते हैं जिन्होंने उपनिवेश तथा आधुनिकता के नाम पर गैर पाश्चात्य देशों की देशज दुनिया के बचपन का प्रारूप तय किया है । इन देशज संस्कृतियों ने किस प्रकार परस्पर अन्तर्संघर्ष किया है तथा नयी संस्कृतियों को जन्म दिया है इसकी ऐतिहासिक व्याख्या के लिए भी इस प्रतिमान में कहीं गुंजाइश नहीं है । यह सांस्कृतिक प्रतिमान अन्ततः पाश्चात्य बुर्जवाजी अवधारणाओं को 'सभ्य आदर्श' के रूप में स्थापित करता है क्योंकि यह प्रतिमान संस्कृति के कुछ अनाधुनिक तथा आवश्यक तत्वों की ही विवेचना करता है ।

तीसरी दुनिया के गरीब बच्चों के बचपन को समझना

हम अधिकतर तीसरी दुनिया के बच्चों को शहरी मध्यम वर्ग के बच्चों एवं गरीब बच्चों में विभाजित करते हैं । हम शहरी मध्यम वर्ग के बच्चों के जीवन में पश्चिमी बच्चों के बचपन के प्रभाव को देखना चाहते हैं जबकि सच्चाई यह है कि गरीबों के बच्चों के जीवन इन पश्चिमी भौतिक एवं सांस्कृतिक अंककों से अप्रभावित रहते हैं। इस प्रकार एक ओर तो हम तीसरी दुनिया के शहरी बुर्जुआ बचपन के निर्माण में आधुनिकीकरण एवं पश्चिमीकरण की भूमिका को स्वीकार करते हैं, जबकि दूसरी ओर गरीबों के बचपन का वर्गीकरण करने के लिए परम्परा का आहवान करते हैं । उदाहरण के लिए बेकर और अन्य (2000 : 161) नेपाल के *खाते* या फुटपाथी बच्चों की जिन्दगियों को समझने में लापरवाही के विमर्श की सीमाओं को रेखांकित करते हुए अधिसंख्य गरीबों द्वारा वर्तमान के अनुभव किये जा रहे पारम्परिक बचपनों और बड़े पैमाने पर उस मध्यमवर्गीय बचपन के बीच विभाजन रेखा बनाते हैं जो प्रभावी पश्चिमी मॉडल की ओर झुकता दिखाई देता है । नेपाली बचपन का विवेचन करने में पारम्परिक को आधुनिक से जो अलग करता है वह, यह है कि पारम्परिक में ''बच्चों को घर एवं घर से बाहर दोनों में कम उम्र में

कार्य का उत्तरदायित्व लेना पडता है ।'' (वही 165) यदि इसे स्वीकार कर लिया जाये कि बच्चों पर प्रभुत्ववादी नैतिक विमर्श श्रम से बच्चों के बुर्जुआ अलगाव को आदर्श रूप में देखता है, तो क्या कम उम्र के बाल श्रमिकों का वर्गीकरण करने के लिए परम्परा का आहवान उस सांस्कृतिक तटस्थता की अनुमति देगा जो सांस्कृतिक प्रारूप द्वारा अभिप्रेत है ।

गरीबों की संस्कृतियों का वर्णन करने के लिए 'परम्परा' अऐतिहासिक एवं आवश्यकतावादी प्रक्रियाओं के रूप में देखी जाती है और ''वे'' और ''हम'' की द्विधा बनी रहती है जो इन गरीबों के जीवन की मात्र विराजनीतिक समझ प्रस्तुत करती है। तीसरी दुनियां के बचपन की जांच पडताल में यह ऐतिहासिक वृत्तान्त अनुपस्थित है जबकि योरोपीय बचपन के अध्ययनों में अबुर्जुआभूत अतीत से रूपान्तरण के इतिहास का आहवान किया जा सकता है। उदाहरण के लिए ब्लेन्चेट (1996) ने अपने ''कंगाली'' या बंगला देश के सीमान्त बच्चों के अध्ययन में इन बच्चों द्वारा अनुभूत भेदभाव को स्पष्ट करने के लिए समाज का सांस्कृतिक प्रथाओं से सम्बद्ध समूह के रूप में जिक्र किया है । उसका समाज को एक पूर्ण यथार्थ के रूप में उपयोग करना वर्णित संस्कृति की कुछ विशेषताओं के स्वभावीकरण को सरल बनाता है। देशीय पारम्परिक संस्कृतियों को स्वायत्त अपरिवर्तनशील इकाइयों के रूप में देखने के मामले में उसका कार्य तीसरी दुनिया के बच्चों पर हुए अध्ययनों का अभिलक्षक है । उसका कार्य इन संस्कृतियों के इतिहास की संघटक भूमिका के रूप में एवं प्रतिनिधित्व की राजनीति, जिसमें इस तरह के वर्णनों का निर्माण होता है, दोनों ही रूप में सत्ता की कार्य-प्रणाली को समाहित करने में असफल रहता है। इसी वजह से इन लोगों के जीवन का वह अविवेचित दृष्टिकोण प्रचलित हो जाता है जिसमें पारम्परिक - आधुनिक द्विधा स्पष्ट रूप से काम में लिए बिना सन्निहित रहती है ।

बौना के खटनी पर वृतांत को हम भारत में पारंपरिक बचपन के उदाहरण के रूप में व्याख्यायित कर सकते हैं । उसके इस विश्वास को कि शारीरक श्रम में किसी औपचारिक प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती उसके पारंपरिक भारतीय बचपन के उस अनुभव को उत्तरदायी माना जा सकता है जिसमें बच्चे के अनुभवों की परिपक्वता के लिए काम को आवश्यक माना जाता है ।

कलकत्ता के बेघर बच्चों के संबंध में मेरे शोध में संस्कृतिवादी प्ररूप ने मुझे बुर्जुआ बचपन के प्रभुत्ववादी वृत्तान्त की आलोचना करने एवं उससे बचने के लिए तार्किक आधार दिया । परन्तु यह मुझे उन साधनों को उपलब्ध करवाने में असफल रहा जिसमें से मैं इन बच्चों की उन आवाजों का विश्लेषण करती जो कुछ ऐतिहासिक रूपान्तरण के अन्तर्गत बनी एवं जिन्होनें इनके जीवन को प्रभावित किया । शिक्षा से महरूम एवं अस्तित्व के लिए कठिन परिश्रम से परिपूर्ण, इन बेघर बच्चों के बचपन को पारम्परिक या पूर्व आधुनिक के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है । परन्तु यह वर्गीकरण उन तरीकों की उपेक्षा करेगा जिनसे उपनिवेशवादी समय के दौरान भारत में आधुनिकता से इनके जीवन अत्यधिक रूप से प्रभावित हुए। यद्यपि भौतिक धन जो आधुनिक बचपन का अभिन्न अंग है, का अभाव उनके जीवन का परिचायक है । लेकिन उपनिवेशवाद, उत्पादन के पूंजीवादी तरीके एवं आधुनिकता से उत्पन्न महत्वपूर्ण परिवर्तनों ने भारत में उनके इतिहास को रूपान्तरित कर दिया है । औपनिवेशिक अवस्था के भारतीय राष्ट्रवादी विमर्श का विश्लेषण करने में पार्थो चटर्जी (1993) विवेचित करते हुए कहते हैं कि किस तरह से भारतीय आधुनिकता का निर्माण उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद से अमिट रूप से बंधा हुआ है और इसलिए पश्चिमी आधुनिकता से महत्वपूर्ण रूप से अलग है । उनके अनुसार ''आधुनिक'' राष्ट्रीय संस्कृति का राष्ट्रवादी निर्माण जो कि पश्चिमी नहीं है, एशिया और अफ्रीका के पूर्व औपनिवेशिक देशों के लिए भी सही है । उनकी पुस्तक 'द नेशन एण्ड इट्स फ्रेगमेन्ट्स : कोलोनियल एन्ड पोस्ट कोलोनियल हिस्ट्रीज'' में कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं को उठाया गया है जो तीसरी दुनियां के बच्चों के बारे में वर्तमान समझ को बढा सकता है । ये बिन्दु हैं कि - इन देशों में आधुनिकता का निर्माण पारस्परिक समझौते पर आधारित है एवं पश्चिमी आधुनिकता से महत्वपूर्ण रूप में अलग है एवं यह कि-यह राष्ट्रीय आधुनिक शहरी एवं ग्रामीण गरीबों के जीवन में आधुनिक भौतिक धन के अभाव के बावजूद प्रभुत्ववादी वैचारिक भूमिका को काम में लेता है । पश्चिमी आदर्श की नकल करने के बावजूद भी यह हमें मध्यम वर्ग एवं धनी वर्ग के बचपन की गरिमा को कम करने की इजाजत नहीं देता और यह हमें गरीबों के बचपन का पूर्व आधुनिक के रूप में नहीं बल्कि उपनिवेशवाद के अधीन निर्मित आधुनिकता द्वारा भौतिक रूप से न सही, वैचारिक रूप से अत्यधिक प्रभावित बचपन के रूप में अध्ययन करने के लिए बाध्य करता है।[1] मेरे द्वारा अनुसंधानित कलकत्ता के बेघर बच्चों की संवेदनाएं एवं विश्व दृष्टि को अभिव्यक्त करने के तरीकों के लिए औपनिवेशिक शिक्षा नीति का इतिहास महत्वपूर्ण है । जैसा कि अनुवर्ती भाग में प्रकाश डाला

गया है, इन वृत्तान्तों को इस विशिष्ट इतिहास एवं इसके उनके जीवन पर लगातार पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण किए बिना नहीं समझा जा सकता ।

व्यावसायिक शिक्षा पर एक बेघर बच्चे के विचार और उनके निहितार्थ

बेघर बच्चों को व्यावसायिक शिक्षा कार्यक्रमों में भर्ती करना एक आम रणनीति है जो इन बच्चों के लिए काम करने वाले कार्यक्रमों द्वारा अपनाई जाती है एवं जिसे शिक्षा के सरकारी दस्तावेजों में आधिकारिक स्वीकृति मिल जाती है (भारत सरकार 1986)। इन बच्चों के जीवन की अपेक्षाएं अनौपचारिक शिक्षा एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण के योग को इनके जीवन के सहज हल के रूप में देखती हैं । एक शोधकर्ता के रूप में मैं ने 1992-95 के मध्य कलकत्ता में बेघर बच्चों के समूह के साथ इनके साक्षरता संबंधी अनुभवों एवं सीखने वालों के रूप में इनके स्वनिर्माण की प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए पन्द्रह महीने बिताये । ये बच्चे एक आवासीय स्थल में रहते थे जो दो छप्परों का बना हुआ था एवं शहर के व्यस्ततम रेल्वे स्टेशन में एक प्लेटफार्म पर स्थापित था । यह स्थल, जिसकी शुरूआत 1989 में हुई थी, अनन्य रूप से ज्यादातर उन लडकों के लिए सेवायें प्रदान करता था जो या तो गांवों में गरीबी का जीवन छोडकर शहर में अच्छी आजीविका कमाने के लिए आये थे, या जो कई वर्षों तक महानगर में विभिन्न स्थानों पर भटकने के बाद यहां आये थे । यद्यपि विभिन्न उम्र के चार से सोलह साल तक के कम से कम एक सौ बच्चे यहां पंजीकृत थे परन्तु सभी बच्चे एक साथ एक समय पर यहां नहीं रहते थे । यह स्थल इन बच्चों के लिए आश्रय, खाना, अनौपचारिक शिक्षा, प्राथमिक स्वास्थ्य सेवायें, परामर्श, सामान रखने के लिए संदूक एवं स्नान के लिए सुविधाएं प्रदान करता था । लडके प्राय: अलग अलग समयावधि के लिए अपने गांव परिवार वालों से मिलने, पास के बाजारों में सब्जी बेचकर नियमित आय कमाने के लिए या दूसरे शहरों में मौसमी कार्य करने के लिए इस स्थल को छोड़कर चले जाते थे ।

इस स्थल पर बडी उम्र के उन बच्चों के लिए व्यावसायिक शिक्षा आदर्श समझी जाती थी जिनको उम्र की वजह से औपचारिक स्कूलों में भर्ती करना मुश्किल था । दोनों अर्थात स्टाफ के सदस्यों तथा लड़कों के बीच व्यावसायिक शिक्षा कार्यक्रम के बारे में यह स्थापित मान्यता थी कि इन कार्यक्रमों में न्यूनतम साक्षरता कौशल की आवश्यकता है एवं बच्चों को पढाने के साथ-साथ आय प्राप्त करने के कौशल से ये कार्यक्रम लैस करते है । इन शिल्पों में प्राय: बढईगिरी, मोटर साइकिल ठीक करना, चमडे का सामान बनाना, नल-साजी इत्यादि शामिल थे । यद्यपि इस रेल्वे स्टेशन पर चलने वाले संगठन के पास व्यावसायिक शिक्षा की सुविधाएं नहीं थी, वे प्राय: बड़े बच्चों को शहर में चलने वाले दूसरे प्रशिक्षण कार्यक्रमों में भेज देते थे जिनमें से कुछ में आवासीय ठहराव की आवश्यकता पड़ती थी जबकि दूसरों में रोज आना-जाना होता था।

तथापि इन व्यावसायिक शिक्षा कार्यक्रमों में बड़ी उम्र के अधिकतर बच्चे यदा-कदा ही अपना प्रशिक्षण पूरा करते थे । इन आवासीय कार्यक्रमों को बीच में छोड़ने में भोजन एवं स्वतंत्रता की अपर्याप्तता से लेकर उन्हें पढाये जाने वाले विशिष्ट शिल्प में रुचि की कमी एवं कार्यक्रमों में किसी के साथ होने वाले झगडे आदि कारण प्रमुख थे। इन कारणों के अतिरिक्त ये बच्चे प्राय: यह महसूस करते थे कि व्यावसायिक शिक्षा शारीरिक श्रम का मात्र औपचारिकीकरण है और इसलिये इस प्रशिक्षण को वे अनावश्यक मानते थे ।

इन वृत्तान्तों को, वृहत्तर विमर्शात्मक एवं ऐतिहासिक व्यवहारों (रिवाजों), जो उनकी विशिष्ट विश्व दृष्टि के निर्माण के लिए आवश्यक हैं, के मध्य स्थापित करने की आवश्यकता पर बल देने के लिये मैंने नीचे के गद्यांश में एक व्यावसायिक शिक्षा कार्यक्रम में बौना के अनुभवों का विस्तृत वृतांत प्रस्तुत किया है । बौना एक बाल श्रमिक था जो रेल्वे स्टेशन पर रहने वाली अपनी मां एवं छोटे भाई के भरण-पोषण के लिये दूध बेचता था, चाय बनाता था, सब्जी बेचता था एवं चिथड़े इकट्ठे करता था । बौना जो कि हाल ही में 16 वर्ष का हुआ था, व्यावसायिक शिक्षा के लिये आदर्श उम्मीदवार था क्योंकि उसकी औपचारिक शिक्षा में कोई रुचि नहीं थी । कार्यक्रम के कर्मचारियों का भी मानना था कि वह अपना समय बर्बाद कर रहा है और आजीविका कमाने का कोई हुनर सीखे बिना बड़ा हो रहा है । उसे एक आवासीय स्थल पर व्यावसायिक शिक्षा के लिए भर्ती कर लिया गया, जहां उसे तीन वर्ष तक बढ़ईगीरी का कार्य सीखना था और उसकी समाप्ति पर यह संगठन उसे औजार एवं अपना व्यवसाय शुरू करने के लिए पैसा प्रदान करने वाला था । यद्यपि बौना की बढ़ईगीरी में कोई रूचि नहीं थी, परन्तु जब कार्यक्रम के प्रशिक्षकों ने इसकी विस्तृत जानकारी दी तो बौना इस कार्यक्रम के बारे में प्रेरित हुआ एवं भर्ती होने की इच्छा जाहिर की । इस कोर्स में प्रवेश लेने के तीन सप्ताह पश्चात उसने इसे छोड़ दिया। जब मैं ने उससे इसका कारण पूछा तो उसने कहा-

‘‘मैंने हावडा केन्द्र पर जाने का निश्चय किया, क्योंकि मैंने सुना था कि यह एक बड़ा स्कूल है जो मुझे बढईगीरी सिखायेगा । यद्यपि मैं बढईगीरी को पसन्द नहीं करता फिर भी मैंने जाने का निश्चय किया । मैं सोचता था कि जीवन में कुछ करना है, और काम तो सीखना है क्योंकि मेरी उम्र बढ़ती जा रही है । जब मैं वहां

गया तो कर्मचारी एवं लड़के मित्रवत थे । मेरी किसी से लड़ाई नहीं हुई । मैं उनका सम्मान करता था । मैं केन्द्र की दिनचर्या का अनुसरण करता था । सुबह हम प्रागंण एवं रहने के स्थान की सफाई करते । तत्पश्चात हमें नाश्ता दिया जाता और तब कुछ घंटों के लिए हम अध्ययन करते । यह पढ़ाई मैं पहले ही स्यालदाह स्थल पर सीख चुका था - बंगाली में कुछ पुस्तकें पढ़ना और थोडा गणित करना । यह मुश्किल नही था क्योंकि मैं इसे पहले से ही जानता था । इसके बाद हम स्नान करते एवं दोपहर का भोजन करते जिसके पश्चात हमें बढ़ईगीरी की कार्यशाला में जाना पड़ता एवं तब लकड़ी का कार्य शुरू करते । यद्यपि यह मुश्किल था पर शुरू-शुरू में मुझे इसमें आनन्द आया और इस कार्य को लेकर हम आपस में हंसी मजाक करते । परन्तु केन्द्र से बाहर जाने की मनाही ने मुझे सोचने को बाध्य कर दिया कि मैं जेल में हूं। इसके अतिरिक्त जो काम हम करते थे उसका भी हमें कोई पैसा नहीं दिया जाता था । जबकि केन्द्र उन चीजों को बेच कर पैसा बना रहा था। जिसका निर्माण हम करते थे लेकिन हमें उसके दर्शन भी नहीं होते थे । हमें सिर्फ बताया जाता था कि हमारा पैसा बैंक में रखा जा रहा है और हमारे प्रशिक्षण के पूरा होने पर हमारी कमाई का दुगुना हमें मिल जायेगा। परन्तु मैं कितना कमाता हूं जब मुझे इसका पता ही नहीं होगा तो मैं कैसे जानूंगा कि उन्होंने मेरे पैसे को दुगना कर दिया है। इस सबसे मैं इस केन्द्र में ऊब गया । मैंने सोचा था कि इस केन्द्र में आने से मुझे नौकरी या काम का मौका मिलेगा या अपना स्वयं का व्यापार कर सकूंगा । और 'खटनी' के जीवन से मुक्त हो जाऊंगा, परन्तु मैंने इस केन्द्र पर जो अनुभव किया वह मात्र अत्यधिक कठोर परिश्रम था। ऐसा काम जो आपको हाथों से करना पड़े उसे सीखने के लिए किसी स्कूल में जाने की क्या तुक है । यह तो मैं किसी का सहायक बनकर स्वयं सीख सकता था एवं इसके अतिरिक्त काम सीखते-सीखते एक नियमित कमाई भी कर सकता था ।''

यद्यपि 'सबके लिए समान शिक्षा' के सिद्धांत को नयी दृष्टि के साथ प्रस्तुत तो किया गया किन्तु इस शिक्षा पद्धति ने गरीबों को शैक्षिक दृष्टि से हाशिए पर कर दिया तथा उनके जीवन में श्रम–गौरव के साथ जीने की गुंजाइश कम होती गयी । यह शिक्षा पद्धति उच्च वर्ग के लोगों के हितों की रक्षा जरूर कर रही थी किन्तु इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि इसने उच्च वर्ग के लोगों के जीवन से श्रम को बाहर कर दिया, भले ही उसने इस वर्ग के लोगों को 'मानुष' का रूप दे दिया ।

बौना के व्यावसायिक शिक्षा को नकारने का हम क्या अर्थ निकालें ? इस शोध-पत्र के लिए, यद्यपि मैं बौना के पढाई छोड़ने के निर्णय में इसकी भूमिका के बारे में अवगत हूं, मैं एक ऐसी व्याख्या से बचना चाहूंगी जो बेघर बच्चों के मनोविज्ञान एवं उसकी तत्काल एवं ठोस लाभ की आवश्यकता पर फोकस करती हो । इसके बजाय में शिक्षा एवं शारीरिक श्रम के प्रति उसके दृष्टिकोण पर फोकस करना चाहूंगी जो उसके वृतांत से प्रकट होते हैं । एक बाल श्रमिक के रूप में बौना सहायक के रूप में अनौपचारिक प्रशिक्षण प्राप्त करने में आने वाली कठिनाईयों के बारे में जानता था । उसे कर्मचारियों के द्वारा बार-बार याद दिलाया जाता था कि यह संगठन उसका प्रशिक्षण पूरा होने के बाद उसके औजारों के साथ उसकी अपनी दुकान खुलवा देगा । परन्तु इन सबके बावजूद भी उसने प्रशिक्षण को छोडना पसंद किया । इसलिए नहीं कि बढईगीरी में कठिन परिश्रम की आवश्यकता थी, वह बराबर इसमें रुचि ले रहा था यह कहते हुए, ''यह तो मैं किसी का सहायक रहकर स्वयं ही सीख लूंगा'', बल्कि उसका विश्वास था कि किसी विषय को स्कूल में सीखने में उस काम में आने वाले श्रम की गहनता में कमी आनी चाहिए । स्कूल की उसकी आकांक्षाओं को पूरा करने में असफलता ने उसे प्रशिक्षण छोड़ने पर मजबूर कर दिया क्योंकि वह महसूस नहीं करता था कि उसे किसी स्कूल में जाने की आवश्यकता है, ''किसी ऐसे कार्य को सीखने के लिए जिसको सीखने में तुम्हें अपने हाथों से काम करना पडे''। बौना का व्यावसायिक शिक्षा को नकारना उसके इस मूलभूत विश्वास के साथ जुडा हुआ है कि औपचारिक प्रशिक्षण को किसी काम में लगने वाले श्रम में कमी करनी चाहिये एवं इसके विपरीत शारीरिक श्रम में किसी औपचारिक प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं है ।

बच्चे के अधिकारों पर सम्मेलन के अंगीकरण के समय से भारत में चलने वाले बेघर बच्चों के कार्यक्रमों ने अपनी शक्ति इन बच्चों को औपचारिक स्कूलों में भर्ती करने पर लगा दी है । स्यालदाह रेलवे स्टेशन पर चलने वाले बेघर बच्चों के कार्यक्रम के असम्बद्ध अभ्यासों ने औपचारिक शिक्षण को एक साधन के रूप में विशेषाधिकृत कर दिया जिससे बेघर बच्चे मानुष बन सकें, जो अपना भविष्य कार्यालय में बितायें तथा शारीरिक श्रम से मुक्त हों (बालगोपालन, आगामी लेख)। इस शैक्षणिक स्थल के अनेक दूसरे बडे बच्चों की तरह ही जो औपचारिक स्कूलों में अधिक आयु की वजह से भर्ती नहीं हो सके, बौना ने भी अपना भविष्य एक खटनी के जीवन के रूप में गढा था- एक तीव्र शारीरिक श्रम का

जीवन। खटनी और मानुष के बीच द्विधा, वृहत्तर बंगाली समाज में मौजूद बहस एवं इसके जटिल औपनिवेशिक इतिहास में ये बच्चे अपने अनुभवों का निर्माण करते हैं ।

बौना के खटनी पर वृतांत को हम भारत में पारंपरिक बचपन के उदाहरण के रूप में व्याख्यायित कर सकते हैं । उसके इस विश्वास को कि शारीरक श्रम में किसी औपचारिक प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती उसके पारंपरिक भारतीय बचपन के उस अनुभव को उत्तरदायी माना जा सकता है जिसमें बच्चे के अनुभवों की परिपक्वता के लिए काम को आवश्यक माना जाता है । बचपन की भारतीय परिभाषा में अन्तर्निहित काम, 'संरक्षित बालक' के आधुनिक पश्चिमी आदर्श से तुलना करने पर परम्परा के अनिवार्यतावादी मर्म को प्रस्तुत करता है ।

इसके अतिरिक्त उसका श्रमयुक्त बचपन एक विशेष मामले के रूप में काम करेगा जो भारत में जाति व्यवस्था के प्रचलन का उदाहरण होगा, जिसका भारतीय इतिहास के प्राच्य विवरणों में विस्तार से वर्णन है अर्थात जाति अपने कठोर संस्तरण एवं कुछ समूहों के अवनतिकरण के रूप में भारत की आवश्यक पहचान का घटक है। अपने हाथों को गन्दा करने वाले शारीरिक श्रम को करने की उच्च जातियों की अनिच्छा मानुष एवं खटनी में संस्तरण पैदा करने के साथ ही साथ खटनी के प्रति उपहास को भी उत्पन्न करती है जो बौना के व्यावसायिक शिक्षा के निषेध में प्रकट होता है। बौना के वृतान्त को परम्परा के क्षेत्र तक सीमित करना उपनिवेशवाद एवं उत्पादन के पूंजीवादी तरीकों के अधीन सांस्कृतिक व्यवहारों की विवेचना को नकारना होगा । यद्यपि हम तीसरी दुनियां के शहरी बुर्जुआ बचपन के निर्माण में इनके प्रभाव को स्वीकार करते हैं तथापि तीसरी दुनिया के गरीब बच्चों के बचपन को पारंपरिक मानते हुए उपनिवेशवाद एवं पूंजीवाद से उत्पन्न महत्वपूर्ण विभाजन को बिन परखे ही छोड देते हैं ।

'संस्कृति की राजनीति' को मान्यता प्रदान करने के क्रम में शेरोन स्टीफेन्स (1995) संस्कृति के समग्रतावादी एवं स्वसंदर्भी विचार को चुनौती देती हैं । इस प्रकार संस्कृति को एक निर्मित श्रेणी के रूप में प्रभुत्ववादी शक्ति की क्रियाशीलता के द्वारा प्रभावित विवेचित प्रक्रिया के विचार को चुनौती देकर, मैं उसके चित्रण की विवादित प्रकृति के बोध का उपयोग उपनिवेशवाद द्वारा भारत के गरीब बच्चों के जीवन में उत्पन्न विभाजन का सविस्तार वर्णन करने के लिए कर रही हूं । उसके राजनीतिकरण के प्रयासों ने, जिसे हम प्राय: बच्चों एवं उनके बचपन के बारे में स्वाभाविक एवं स्वयंसिद्ध समझ लेते हैं, मेरी पुन: सोच, मेरे बेघर बच्चों संबंधी कार्य एवं इसके जरिये सार्वभौमिक बचपन की पारम्परिक-आधुनिक द्विधा को अत्यधिक प्रभावित किया है । भारत के गरीबों के बचपन को जातीय संस्तरण एवं इसके श्रम-विभाजन रूपी दलदल में धंसे हुए देखने के बजाय, मेरा यह बताने का प्रयास है कि औपनिवेशीय राज्य की नीतियों ने किस तरह हमारे प्रचलित मानुष-खटनी विभाजन की असंगत समझ को संस्थागत करने एवं प्रचलन में लाने में मदद की ।

शिक्षा की औपनिवेशिक नीति तथा देशी शिक्षा

यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक्ट 1813 ने भारत में उपनिवेशी सत्ता के सर्वोच्च प्रतिनिधि गवर्नर जनरल को देशी लोगों की शिक्षा पर एक लाख रुपये (10,000 पाउंड) की राशि व्यय करने की अनुमति दे दी थी तथापि 1854 के वुडस डिस्पैच के बाद ही गरीबों के लिए सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा का प्रावधान हो पाया। बीच के सालों में 'दुभाषियों की एक जमात' भारत में पैदा हो गयी थी जिसका कार्य जनता तथा सरकार के बीच सम्पर्क बनाए रखना था । इन दुभाषियों को मैकाले ने 'एक ऐसी जमात बताया जो रक्त और रंग से भारतीय तथा रुचियों, धारणाओं, नैतिकी और बौद्धिकी में अंग्रेज होगी' (क्लाइव तथा पिने 1972, पृष्ठ 249) । कुछ देशी बुद्धिजीवियों को आधुनिक उदार शिक्षा देने की नीति अपनाने से इस लक्ष्य की निष्पत्ति हुई । साथ ही अंग्रेजों का यह भी मानना था कि इस जमात के लोगों की शिक्षा का स्तर उठाकर उनके विचारों और भावों में लाभकारी बदलाव लाया जा सकता है, यह बदलाव अन्य प्रत्यक्ष क्रियाकलापों से संभव नहीं है । (कुमार 1991-99)

विज्ञान तथा कूटनीति में पश्चिम की श्रेष्ठता स्वीकार करने के कारण शिक्षित बंगाली मध्यवर्ग अर्थात भद्रलोक को 'निस्यन्दन (फिलट्रेशन) की यह नीति' बहुत प्रिय लगी । (आचार्य 1995) पश्चिम की भौतिक समृद्धि का अनुकरण करने के लिए सरकार तथा धनिक बुद्धिजीवी वर्ग द्वारा स्थापित स्कूलों तथा कालेजों की संख्या बढ़ती गयी । यह औपनिवेशिक शिक्षा नीति भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं के विरोध के बावजूद पनपती गयी क्योंकि राष्ट्रवादी नेताओं के विरोध का जनता पर प्रभाव उदार पाठ्यक्रम के प्रभाव की तुलना में धीमा था। वस्तुत: इस नीति का प्रथम बार मुखर विरोध तो महात्मा गांधी ने 1937 में राष्ट्रीय शिक्षा पर आयोजित प्रथम गोष्ठी में किया ।[2]

औपनिवेशिक सरकार की शिक्षा नीति ने, जो नवबुद्धिजीवी वर्ग के स्कूलों को सहायता कर रही थी, बंगाल की 11 वीं शती से चले आ रहे देशी स्कूलों के विराट संजाल की घनघोर उपेक्षा की (आचार्य, 1994) । इस संजाल में दो प्रकार के स्कूल चल

रहे थे - निम्न जाति के गरीब बच्चों के लिए पाठशालाएं तथा कुलीन ब्राह्मण तथा उच्च वर्ग के बच्चों के लिए संस्कृत पाठशालाएं या 'टोल्स' । पूर्व उपनिवेश कालीन शिक्षा निम्न वर्ग के बच्चों को टोल्स के संस्कृत ज्ञान से वंचित करने की नीति पर आधारित थी। पूर्व उपनिवेशकालीन समाज व्यवस्था में संस्कृत तथा अरबी-फारसी पढ़ने का अधिकार केवल उच्च जाति के बच्चों को था तथा यह भी माना जाता था कि संस्कृत और अरबी-फारसी पढ़े-लिखे लोगों को शारीरिक श्रम करने की जरूरत नहीं है। इस आधार पर यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि पूर्व उपनिवेशकालीन भारतीय समाज निर्बाध रूप से विभक्त था । फिर भी निम्न जाति के बच्चों के लिए स्थापित पाठशालाओं की भूमिका भी महत्वपूर्ण थी । देशी शिक्षा पर एडम रिपोर्ट (1937) ने हजारों स्कूलों का विवरण देकर स्पष्ट किया है कि स्वतंत्र वजूद वाली इन पाठशालाओं का प्रमुख दायित्व समाज के प्रति था तथा शिक्षक का इस प्रक्रिया पर पूरा नियंत्रण था कि बच्चे को कब, कौन सा विषय पढ़ाया जाए । गवर्नर जनरल मोरिया ने, सरकारी नौकरी में ग्रामीण शिक्षकों को भर्ती न करने की नीति के खिलाफ निर्णय लेते समय माना कि ये ग्रामीण शिक्षक पढ़ने-लिखने और गणित की आरंभिक शिक्षा बहुत कम पारिश्रमिक लेकर देने का महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं । इनका पारिश्रमिक इतना कम है कि एक साधारण व्यक्ति भी उसे पोसा सकता है । (नूरुल्ला तथा नायक 1951 : 64) यद्यपि गरीबों का संस्कृत 'टोल्स' में प्रवेश निषिद्ध था तथापि वे अपनी स्वतंत्र पाठशालाएं चलाने को स्वतंत्र थे तथा उनके जीवन में खटनी, (बौना द्वारा वर्णित 'खटनी' के अर्थ में नहीं) का पूरा स्थान था । बौना के लिए खटनी का अर्थ स्कूल-वंचित बच्चे से था जबकि पूर्व उपनिवेश काल में खटनी के जीवन में पाठशाला की शिक्षा संभव थी । वस्तुतः आधुनिक समय की शिक्षा पद्धति में निम्न जाति के लोगों के लिए शिक्षा के साथ व्यवसाय सीखने की भी गुंजाइश थी ।

ब्रिटिश सरकार की निस्यन्दन नीति ने इन पाठशालाओं को कमजोर किया तथा 1854 में उपनिवेश-सरकार ने आमजन को प्राथमिक शिक्षा मुहैय्या कराने की दृष्टि से इन पाठशालाओं पर नौकरशाही नियंत्रण आरंभ कर दिया । औपनिवेशिक नौकरशाही ने सरकारी पाठयपुस्तकों तथा पूर्वनिर्धारित पाठयचर्या के प्रयोग के साथ शिक्षकों का प्रशिक्षण तथा विद्यार्थियों की योग्यता तय करने के लिए एक केन्द्रीय परीक्षा व्यवस्था लागू कर दी (कृष्णकुमार 1991, 1992 नूरुल्ला तथा नायक 1951) । इस नयी आधुनिक शैक्षिक नौकरशाही ने पाठशालाओं की स्वतंत्रता समाप्त कर दी, शिक्षक की भूमिका को एक साधारण कर्मचारी के रूप में संकुचित कर दिया तथा परम्परागत रूप से पढ़ायी जाने वाली देशी पाठ्य सामग्री को स्थगित कर दिया। शिक्षा की इस नयी पद्धति ने आधुनिक तथा पेशेवर नौकरशाही उत्पन्न करने वाली पाठ्यचर्या का सूत्रपात किया । यह पाठ्यचर्या गरीबों के लिए बिल्कुल अजनबी थी किन्तु उसमें उनके जीवन के पिछडेपन को रूपान्तरित करने की ललक पैदा करने की क्षमता थी ।

इस नयी आधुनिक और केन्द्रीय शिक्षा पद्धति के उदय ने भारतीय जनता में एक दरार पैदा कर दी, उच्च वर्ग अर्थात भद्रलोक के लिए यह शिक्षा आवश्यक बन गयी, जबकि निम्न वर्ग के लिए यह अप्रासंगिक हो गयी । (आचार्य 1989, 113) सबके लिए एक सी शिक्षा के मानक पाठ्यक्रम में उच्च वर्ग के लोगों के हितों तथा पृष्ठभूमि का ही ध्यान रखा गया था । यद्यपि 'सबके लिए समान शिक्षा' के सिद्धांत को नयी दृष्टि के साथ प्रस्तुत तो किया गया किन्तु इस शिक्षा पद्धति ने गरीबों को शैक्षिक दृष्टि से हाशिए पर कर दिया तथा उनके जीवन में श्रम-गौरव के साथ जीने की गुंजाइश कम होती गयी । यह शिक्षा पद्धति उच्च वर्ग के लोगों के हितों की रक्षा जरूर कर रही थी किन्तु इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि इसने उच्च वर्ग के लोगों के जीवन से श्रम को बाहर कर दिया, भले ही उसने इस वर्ग के लोगों को 'मानुष' का रूप दे दिया । खटनी इस व्यवस्था में व्यक्तिगत असफलता का पर्याय बन गयी क्योंकि वह कठोर तथा शारीरिक श्रम से भरपूर जिंदगी बन गई जिसमें स्कूली शिक्षा की कहीं आवश्यकता नहीं रह गयी थी । इस नयी औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति ने समाज में द्वि-आयामी स्तर विकसित कर दिया, बौना अपने विवरण में इसीलिए व्यावसायिक शिक्षा का निषेध करता है ।

फैक्ट्री स्कूल, व्यावसायिक शिक्षा और गरीब बच्चे

उपनिवेशकाल के गरीबों की जिन्दगी के ढांचे में बाल मजदूरी की समस्या पर हम मानुष और खटनी के विमर्श पर आगे विचार कर सकते हैं । तीसरी दुनिया के देशों में गरीब बच्चों के बचपन के अपहरण का प्रमुख कारण बाल मजदूरी ही है । किसी प्रकार के व्यावसायिक प्रशिक्षण के प्रति बौना का निषेध इस तथ्य का परिचायक है कि कम उम्र में काम करने की संस्कृति के कारण बच्चों को किसी प्रकार का व्यावसायिक प्रशिक्षण विदेशी और निरर्थक लगता है । किन्तु इस धारणा को स्वीकार करने का अर्थ होगा, औपनिवेशिक पूंजीवाद के प्रभाव से भारत में बच्चों के घरेलू कार्य में आवश्यक रूप से दीक्षित होने और इस कार्य को मजदूरी में तब्दील करने की प्रक्रिया को कम करके आंकना । पूर्व उपनिवेश काल में भी बच्चों के घरेलू कार्य से परिवार के अर्थशास्त्र के विकास में सहयोग मिलता था किन्तु बच्चों के श्रम का मजदूरी में रूपान्तरण तो उपनिवेशकाल में ही आरंभ हुआ । उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में, जब इंगलैण्ड में बालश्रम समाप्त करने का कानून

लागू हो रहा था तथा बाल शिक्षा को अनिवार्य बनाया जा रहा था, उसी समय भारत में खानों, उद्योगों, तथा चाय-बागानों से संबंधित कारखाने लगाये जा रहे थे और उन कारखानों में बाल श्रमिकों को कुशल कारीगरों में रूपान्तरित करने के लिए फैक्ट्री स्कूलों की स्थापना हो रही थी । उद्योग-बस्तियों में जब पूंजी बालश्रम के उपयोग में संलग्न हो रही थी, गरीब माता-पिता की बच्चों को स्कूल या व्यावसायिक प्रशिक्षण के लिए भेजने की अनिच्छा एक सामान्य प्रवृत्ति बन रही थी ।

जाहिर है कि आरंभिक स्कूल तो श्रमिक मां - बाप से बच्चों को विलग करने के लिए खोले गये थे । वास्तविकता यह है कि ये फैक्ट्री स्कूल कुशल तथा आज्ञाकारी श्रमिक पैदा करने की उपयोगितावादी दृष्टि के परिणाम थे, साथ ही ये स्कूल श्रमिकों के बच्चों को कुशल श्रमिक बनने का प्रशिक्षण भी देते थे । ईस्ट इण्डियन रेलवे कम्पनी के डॉ. सैशे ने यह कह कर कोयला खदानों में स्कूल खोलने का औचित्य सिद्ध किया, ''वयस्क श्रमिक कुछ नया सीखने के योग्य नही रह पाते जबकि उनके बच्चों को उपयुक्त प्रशिक्षण देकर श्रमिकों की अगली पीढ़ी को बुद्धिमान तथा अनुशासित श्रमिक के रूप में विकसित किया जा सकता है ।'' (ब्यूरो ऑफ एजूकेशन, 1918:20)

कंपनी ने चार वर्ग के स्कूल खोले प्राथमिक, पूर्व प्राथमिक, उत्तर प्राथमिक तथा औद्योगिक, इनमें से औद्योगिक स्कूल में गणित तथा तकनीकी शिक्षा के साथ कारखाने में व्यावहारिक कार्य भी सिखाया जाता था । कम्पनी के सुरक्षा दस्तों द्वारा पांच से बारह वर्ष तक के बच्चों को इन स्कूलों में जाने के लिए विवश किया जाता था इसलिए ये स्कूल श्रमिकों में अलोकप्रिय होने लगे । इसके साथ ही कंपनी ने स्कूलों में जाने वाले बच्चों के लिए वजीफों तथा अतिरिक्त वेतन वृद्धि की व्यवस्था कर दी, तो भी 1758 लड़कों में से केवल 52 लडके ही इन औद्योगिक स्कूलों में गये। (वही) अंग्रेज नौकरशाही इन औद्योगिक स्कूलों के विकास के पक्ष में थी तथा उसके लिए गिरडीह स्कूल साक्षर युवकों को नीचे स्तर की तकनीकी शिक्षा देने का उत्तम उदाहरण था क्योंकि उसका मानना था कि इस तकनीकी प्रशिक्षण से श्रमिकों में उनके कार्य के प्रति निष्ठा और तत्परता की भावना में अभिवृद्धि होती है, साथ ही अधिक मजदूरी मिलने की सुरक्षा भी होती है, इससे नियोजकों को श्रम के बदले अधिक आर्थिक लाभ मिलता है ।

इसी प्रकार भारतीय श्रमिकों को अंग्रेजी में शिक्षा देने की आवश्यकता भी अनुभव की गई क्योंकि अंग्रेजी पढ़े श्रमिकों को दुभाषियों द्वारा श्रमिक आन्दोलन के लिए भड़काना मुश्किल था, इसी के परिणाम स्वरूप 1904 में बकिंघम एण्ड कर्नाटक मिल्स, पैराम्बूर (मद्रास) में एक संयुक्त स्कूल की स्थापना हुई । इस स्कूल में प्रवेश अंग्रेजी न बोल सकने वाले बच्चों के लिए प्रतिबन्धित था तथा इस स्कूल के कक्षा-कक्ष में मिल में काम आने वाली मशीनें भी लगी थीं जिनके अंग्रेजी नाम उनके नीचे लिखे हुए होते थे ताकि बच्चे अच्छी तरह समझ सकें । आधे दिन कार्य करने वाले बच्चे इस स्कूल में आने लगे तथापि स्कूल में उपस्थिति के लिए लालच देने के बावजूद पचास प्रतिशत से अधिक बच्चे इस स्कूल में नहीं आए ।

उपनिवेशी प्रशासन ने इस कम उपस्थिति का कारण भारतीयों में व्याप्त उदासीनता की भावना तथा हानिकारक संतोष की भावना को माना । प्रशासन गरीब मां-बाप को यह समझाने भी लगा कि वे अपने बच्चों के भविष्य के प्रति महत्वाकांक्षी क्यों नहीं हैं । चर्च ऑफ स्काटलैण्ड मिशन द्वारा दार्जलिंग के चाय बागान में स्थापित एक स्कूल के एक पौधारोपण अधिकारी का मानना था कि स्कूलों में बच्चों की कम उपस्थिति का कारण यह है कि अधिसंख्य श्रमिक अपनी जीवन स्थितियों से संतुष्ट हैं तथा उनमें से कुछ श्रमिक पैसा बचाकर पशुधन आदि खरीद लेते हैं और वे सोचते हैं कि यह सब उनके बच्चों के भविष्य के लिए पर्याप्त है (ब्यूरो ऑफ एजूकेशन 1921 : 14) । ऐसे ही विचार 1908 के फैक्ट्री लेबर कमीशन ने व्यक्त किए हैं तथा प्राथमिक विद्यालय खोलने के निर्णय को स्थगित करने को सही ठहराते हुए कहा है कि श्रमिक मां-बाप अपने बच्चों को शारीरिक श्रम से ऊपर उठाने की कामना ही नहीं करते। (ब्यूरो ऑफ एजूकेशन 1921 I, iii)

आधुनिक प्राथमिक विद्यालयों के प्रसार के बावजूद श्रमिकों के बच्चों में से कुशल तथा बुद्धिमान कारीगर निर्मित करने के लिए ये फैक्ट्री स्कूल भी चलते रहे । बीसवीं शताब्दी के आरंभ में जब इंगलैण्ड में एक व्यापक शिक्षा-तंत्र विकसित हो चुका था । अनिवार्य शिक्षा कानून लागू था तथा बालश्रम पर पाबंदी लग चुकी थी, तब भारत की अंग्रेज सरकार अपने कारखानों में बालश्रम को वैध बनाने का प्रयास कर रही थी । साथ ही प्राथमिक शिक्षा के पश्चात किसी दस्तकारी के प्रति गरीबों में लगाव को प्रश्रय दिया जा रहा था । 20 वीं शती के आरंभ में इस प्रश्न पर विशद चर्चा हो रही थी कि गरीब बच्चों को किस प्रकार की शिक्षा दी जाए । कलकत्ता कार्पोरेशन ने प्राथमिक शिक्षा के बाद किए जा सकने वाले व्यवसायों के प्रस्ताव तैयार किए । मैन्डीकेंसी कमेटी ने 1920 में अपने प्रतिवेदन में सिफारिश की कि बंगाल सरकार बच्चों के लिए फैक्ट्री स्कूल खोले (कलकत्ता गजट 1926) । प्राथमिक शिक्षा पर बंगाल की बिस रिपोर्ट (1921:35) ने प्रस्ताव किया कि एक मानक तकनीकी शिक्षा का प्रावधान हो ताकि फैक्ट्रियों के लिए उपयुक्त कानूनी

व्यवस्था में प्रशिक्षित तथा कुशल देशी मानक-श्रमिक मिल सकें। कार्पोरेशन ने यह व्यवस्था की कि कलकत्ता इंजीनीयरिंग कॉलेज कार्पोरेशन नि:शुल्क प्राथमिक स्कूलों से कुछ बच्चों को अपने दस्तकारी विभाग में हर वर्ष प्रशिक्षित करे । यह समझना चकित करने वाला है कि 1887 में इंग्लैण्ड तथा वेल्स के प्राथमिक शिक्षा एक्टों के क्रियान्वयन की जांच करने के लिए नियुक्त क्रास कमीशन के समक्ष समाजवादियों तथा श्रमिक प्रतिनिधियों ने प्राथमिक स्कूलों में दी जा रही व्यावसायिक शिक्षा का यह कहकर पुरजोर विरोध किया कि श्रमिक वर्ग इसे बिलकुल पसंद नहीं करता। श्रमिक वर्ग की मान्यता है कि इस प्रकार की व्यावसायिक शिक्षा समय का अपव्यय मात्र है तथा इससे सामान्य स्कूली शिक्षा बुरी तरह आहत होती है । (साइमन 1965 : 125)

दूसरी ओर कलकत्ता कार्पोरेशन बिलकुल प्रतिकूल कारणों से प्राथमिक स्कूलों में व्यावसायिक शिक्षा लागू करने का विरोध कर रहा था । कार्पोरेशन का तर्क था कि ''एक स्कूल क्लर्क के बेटे तथा लुहार के बेटे को प्राथमिक स्कूल एक-सी व्यावसायिक शिक्षा देगा तो इसका व्यावसायिक महत्व कम सांस्कृतिक महत्व अधिक होगा'' (कलकत्ता गजट 1926)। एक क्लर्क के बेटे को किसी प्रकार के व्यावसायिक प्रशिक्षण की जरूरत नहीं है जबकि एक लुहार के बेटे को इसकी सख्त जरूरत है क्योंकि मानसिक तथा सांस्कृतिक रूप से वह मान चुका होता है कि उसे अपनी आजीविका कारीगरी से ही अर्जित करनी है तथा वह उच्च शिक्षा के सर्वथा अयोग्य है । डेनियल फ्लेमिंग ने अपनी पुस्तक 'स्कूल्स विद अ मेसेज इन इण्डिया' में कहा है कि एक किसान के पुत्र को लिखने-पढ़ने तथा गणित के साधारण से ज्ञान की जरूरत है ताकि वह गांव के बनिये तथा जमींदार से अपना हिसाब किताब कर सके । फ्लेमिंग (1922 : 4) भारत में मिशनरी स्कूलों के कार्य का परीक्षण करने के लिए नियुक्त कमीशन के सदस्य थे ।

ये फैक्ट्री स्कूल कुशल तथा आज्ञाकारी श्रमिक पैदा करने की उपयोगितावादी दृष्टि के परिणाम थे, साथ ही ये स्कूल श्रमिकों के बच्चों को कुशल श्रमिक बनने का प्रशिक्षण भी देते थे । ईस्ट इण्डियन रेलवे कम्पनी के डॉ. सैशे ने यह कह कर कोयला खदानों में स्कूल खोलने का औचित्य सिद्ध किया, ''वयस्क श्रमिक कुछ नया सीखने के योग्य नही रह पाते जबकि उनके बच्चों को उपयुक्त प्रशिक्षण देकर श्रमिकों की अगली पीढ़ी को बुद्धिमान तथा अनुशासित श्रमिक के रूप में विकसित किया जा सकता है ।''

अस्तु, औपनिवेशी सरकार स्वयं को अपने बुर्जुवाजी आदर्शों के साथ भारत के देशी समाज से भिन्न रखने का प्रयास करती रही तथा इसके लिए भारत की जातिवादी श्रेष्ठता तथा सामंती संबंधों को दोषी साबित करती रही । यह सब वह अपने हित साधन के लिए कर रही थी । इसके लिए ही अंग्रेज सरकार गरीबों को सीमित स्कूली शिक्षा के साथ व्यावसायिक प्रशिक्षण देने तथा पूर्व उपनिवेशकालीन जाति-आधारित व्यावसायिक कौशलों का आधुनिक मजदूरी में रूपान्तरण करने का प्रयास कर रही थी । इन सारे प्रयासों ने गरीब बच्चों में काम करने की जरूरत की तथा उनके माता-पिता में शिक्षा के प्रति अरुचि और उदासीनता की भावनाएं भर दीं । पूर्व उपनिवेश कालीन जाति व्यवस्था तथा जातिगत भेदभाव, आधुनिक शिक्षा व्यवस्था द्वारा समाप्त होने के स्थान पर, व्यावसायिक शिक्षा के लिए आदर्श बन गया अर्थात अंग्रेज सरकार द्वारा स्थापित व्यावसायिक शिक्षा व्यवस्था से ये भेदभाव और सुदृढ़ हुए ।

भारत की स्वातंत्र्योत्तर शिक्षा नीति, भले ही उसमें गत पचास साल की विभिन्न सरकारों ने प्राथमिक शिक्षा के सार्वजनीकरण के शब्दाडम्बर की गूंज को खूब भुनाया है, मूलत: औपनिवेशिक शिक्षा के आधारों का ही प्रतिनिधित्व करती रही है । गांधीजी की बुनियादी शिक्षा में 'मानुष' तथा 'खटनी' के विमर्श के लिये बहुत गुंजाइश थी क्योंकि यह सारे बच्चों को एक समुदाय में रहते हुए उत्पादक कौशल सीखने पर बल देती है तथा निम्न जाति के बच्चों की दैनन्दिन आवश्यकताओं को समझने का प्रयास करती है । तथापि गांधीजी की शिक्षा संबंधी अवधारणा को स्वतंत्र भारत में कोई स्वीकृति नहीं मिल पायी क्योंकि यह नये देश के शासक वर्ग की बुद्धिमत्ता पर ही प्रहार करती थी जिसकी वैज्ञानिक प्रगति तथा भौतिक विकास के विचार का गरीबों की जिन्दगी से कोई संबंध नहीं था ।

यद्यपि उच्च शिक्षण संस्थाओं में योग्यताधारित सबके लिए प्रवेश के समान अवसर की नीति भारत में लागू है तथापि प्राथमिक शिक्षा के दो स्तर स्पष्ट रूप से देश में प्रचलित हैं - उच्च तथा मध्य वर्ग के बच्चों के लिए अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा देने वाले निजी स्कूल तथा मातृभाषा के माध्यम से गरीब बच्चों को शिक्षा देने वाले सरकारी स्कूल । कहने की जरूरत नहीं कि ये निजी संस्थाएं सरकारी स्कूलों की तुलना में कहीं अच्छे परिणाम दे रही हैं । यह

भी चिन्ताजनक बात है कि देहाती तथा गरीब बच्चों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर अभी तक पाठ्यक्रम का निर्धारण नहीं हुआ है और न बच्चों की दैनन्दिन जरूरतों को समझने का प्रयास किया गया है ।

निष्कर्ष

शिक्षा के आधुनिक संदर्भों की समीक्षा प्रस्तुत करते समय पूर्व उपनिवेशकालीन विशिष्टताओं को रेखांकित करना अतीत के प्रति सम्मोहन नहीं है । आधुनिक होने की प्रक्रिया में उन असंख्य तरीकों के साथ आधुनिक-पूर्व युग की उन विशेषताओं, समाजगत श्रेणीबद्धताओं, बहिष्करणों तथा गत्यात्मकता के उन अभावों की चर्चा जरूरी है जो भारत के मूल स्वभाव रहे हैं । तीसरी दुनिया के हाशिए पर पडे बच्चों के अधिकारों के लिए हुए आधुनिक आन्दोलनों से यह स्पष्ट हो गया है कि उन्हें स्कूलों में भेजने की सख्त जरूरत है । एक कमरे तथा एक शिक्षक वाले सरकार तथा अन्य संगठनों की मदद से भारत में स्थापित ये स्कूल यहां के बच्चों के लिए सर्वथा अपर्याप्त हैं । बाल अधिकारों के लिए कार्यरत ये संगठन इन स्कूलों का समर्थन इसलिए कर रहे हैं तथा इन स्कूलों की शिक्षा को इसलिए महत्व दे रहे हैं क्योंकि इनसे बच्चों के शोषण की प्रक्रिया बाधित हुई है। इससे इस विश्वास को बल मिलता है कि यह औपचारिक शिक्षा व्यवस्था बच्चों की जिन्दगी का रूपान्तरण कर सकती है तथा पुरानी पाठशालाओं तथा टोल्स की तुलना में बच्चों को अधिक सभ्य तथा सत्यप्रिय बना सकती है । किन्तु इस आलेख में, जो गरीबों के जीवन को बेहतर बनाने के उपायों को रेखांकित करता है, न तो बचपन को समझने के पाश्चात्य बुर्जुवाजी के तरीकों को महत्व दिया गया है न देशी तरीकों को । यह आलेख उन तरीकों को समझने का प्रयास है जो देशी (परम्परागत) तथा आधुनिक हैं किन्तु बचपन को खुशहाल और समृद्ध बनाने में सहायक होते हैं तथा यूरोपीय कल्पना के अनुरूप भारत के बच्चों को एवं तीसरी दुनिया के देशों के बच्चों को भी आधुनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बनाते हैं।

यह उन तरीकों को पहचानने की भी कोशिश है जो देसी और आधुनिक बचपनों की प्रस्तुति को पृथक् श्रेणियों में रखती है और योरोपीय काल्पनिकता में निर्मित आधुनिकता की उस परियोजना को संपादित करना जारी रखती है जिससे हम पूर्व आधुनिक और तीसरी दुनिया में आधुनिक के इतिहास पर नजर रखते हुए आधुनिक पश्चिमी बचपन के विश्वव्यापी प्रमुख आदर्श की आलोचना करते हैं । ◆

टिप्पणियां :

(i)पार्थ चटर्जी भारतीय राष्ट्रीयता के अपने विवेचन में उस रूपरेखा को प्रस्तुत करते हैं जिसके अन्दर राष्ट्र के विशिष्ट जनों द्वारा निर्मित राष्ट्रीय-आधुनिक व्यक्ति की मिली जुली प्रकृति आलोकित होती है। उनके मतानुसार औपनिवेशिकता विरोधी राष्ट्रवाद सामाजिक संस्थाओं को भौतिक और आध्यात्मिक दो क्षेत्रों में बांट देता है और आध्यत्मिक क्षेत्र की औपनिवेशिक राज्य से राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता शुरू होने से पहले ही वह उस पर अपनी प्रभुता को मजबूत कर लेता है। जहां भौतिक क्षेत्र (अर्थनीति, शासन कला, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र) वह क्षेत्र था जिसमें पश्चिम ने श्रेष्ठता साबित कर दी थी और पूर्व को उससे प्रतिस्पर्धा करने की जरूरत पैदा कर दी थी वहीं आध्यात्मिक क्षेत्र ने सांस्कृतिक पहचान के आवश्यक विशेषणों को धारण कर लिया था । उसने औपनिवेशिक सुधारों से अपनी दूरी और विशिष्टता को बनाये रखा था । इस विशिष्ट आध्यात्मिक सार तत्व का मतलब यह नहीं था कि भारतीय परम्पराएं राष्ट्रवादियों द्वारा अछूती छोड़ दी गई थीं। वास्तव में इस आन्तरिक या आध्यात्मिक क्षेत्र में वह राष्ट्रवाद उस आधुनिक राष्ट्रीय सस्कृति को निर्मित करने की परियोजना अपने हाथ में लेता है जो किसी भी रूप में पश्चिमी नहीं होता । यह वही आन्तरिक क्षेत्र था जिसमें राष्ट्रवादी मध्यमवर्ग की भारतीय स्त्रियों के आधुनिकीकरण का काम करते थे । उन्हें पश्चिमी स्त्रियों की राह पर चलने देने की बजाय, आधुनिकता के किन पहलुओं को ये भद्र महिलाएं ग्रहण करेंगी और किन्हें नहीं, इसको चुनने का निर्णय वे स्वयं करते थे । जाहिर है ये ही वे तरीके थे जो बच्चों और बचपन को जानने की दृष्टि को प्रभावित करते थे । और यह नई पितृसत्ता यद्यपि मध्यमवर्ग तक ही सीमित थी लेकिन यह प्रभुता परक व्यवस्था के रूप में सर्वत्र व्याप्त थी और इस तरह निम्न वर्ग की व्यक्ति परकता के निर्माण को भी प्रभावित करती थी ।

(ii) इस औपनिवेशिक शिक्षा का विरोध गांधी की पश्चिमी सभ्यता की आलोचना का एक अंग था क्योंकि वे मानते थे कि यह सभ्यता सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों को बनाये रखने में असफल रही है और इसकी वैज्ञानिक व भौतिक उपलब्धियाँ दूसरी जातियों की लूट पर आधारित रही है । उनकी बुनियादी तालीम की योजना यह प्रावधान करती है कि बच्चे एक उत्पादक दस्तकारी, एक अनिवार्य स्कूली विषय के रूप में अवश्य सीखें । उनका प्रस्ताव गरीब बच्चों के उस परायेपन के अहसास को कम करने का लक्ष्य लिये हुए था जिसे वे स्कूल में महसूस करते थे । अपनी इस योजना के द्वारा वे बच्चों को आत्मनिर्भर बनाना और उनकी हस्तनिर्मित वस्तुओं की बिक्री से स्कूलों को आर्थिक रूप से अपने पैरों पर खड़ा करना चाहते थे । गांधी की बुनियादी तालीम कार्यक्रम के बारे में अधिक जानकारी के लिए कृपया इकोनोमिक एन्ड पोलिटिकल वीकली 1997 में प्रकाशित परमेश आचार्य का लेख 'एज्यूकेशनल आइडियलज ऑफ टेगोर एन्ड गांधी' तथा कृष्ण कुमार का 1991 में प्रकाशित लेख 'पोलिटिकल एजेन्डा आफ एज्यूकेशन' पढें ।